समयरेखा

हिन्दी ADDA

अंजू शर्मा

समयरेखा

"छह बजने में आधा घंटा बाकी है और अभी तक तुम तैयार नहीं हुई। पिक्चर निकल जाएगी, जानेमन!!!"

मानव ने एकाएक पीछे से आकर मुझे बाँहों में भरते हुए जोर से हिला दिया। बचपन से उसकी आदत थी, मैं जब-जब क्षितिज को देखते हुए अपने ही ख्यालों में डूबी कहीं खो जाती, वह ऐसे ही मुझे अपनी दुनिया में लौटा लाता। उसका मुझे 'जानेमन' कहना या बाँहों में भरकर मेरा गाल चूम लेना किसी के मन में भी भ्रम उत्पन्न कर सकता था

कि वो मेरा प्रेमी है। मेरी अपनी एक काल्पनिक दुनिया थी जिसमें खो जाने के लिए मैं हरपल बेताब रहती। ढलते सूरज की सुनहरी किरणों में जब पेड़ों की परछाइयाँ लंबी होने लगती, शाम दबे पाँव उस प्रेमिका की तरह मेरी बालकनी के मनी-प्लांट्स को सहलाने लगती जो अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करते हुए हर सजीव-निर्जीव शय को अपनी प्रतीक्षा में शामिल करना चाहती है। ऐसी शामों के धुंधलकों में मुझे खो जाने देने से बचाने की कवायद में, तमाम बचकानी हरकतें करता, वह मेरे आँचल का एक सिरा थामे हुए ठीक मेरे पीछे रहता। ऐसा नहीं था कि यह उसकी अनधिकार चेष्टा मात्र थी, कभी मैं भी उसकी हँसी में शामिल हो मुस्कुराती तो कभी कृत्रिम क्रोध दिखाते हुए उसकी पीठ पर धौल जमाते हुए ऐतराज जताती।

पर आज तंद्र भंग होना मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। "जाओ न, मनु! आज मेरा मन नहीं है।" मैंने नीममदहोशी में फिर से अपनी दुनिया में लौट जाने के ख्याल से दहलीज से ही उसे लौटा देना चाहा। मेरी आवाज में छाई मदहोशी से उसका पुराना परिचय था।

"तुम्हारे मन के भरोसे रहूँगा तो कुँवारा रह जाऊँगा, जानेमन" उसने फिर से मुझे दहलीज के उस ओर खींच लेने का प्रयास किया।

"शटअप मनु! जाओ अभी!" मैंने लगभग झुंझलाते अपनी दुनिया का दरवाजा ठीक उसके मुँह पर बंद करने की एक और कोशिश की और इस बार झुंझलाने में कृत्रिमता का तनिक भी अंश नहीं था। सचमुच पिक्चर जाने का मेरा बिल्कुल मन नहीं था। यूँ भी मानव की पसंद की ये चलताऊ फिल्में मुझे रास कहाँ आती थी। वो मुझे निरा अल्हड़ किशोर नजर आता, जिसकी बचकानी हरकतें कभी होंठों पर मुस्कान बिखेर देती तो कभी खीज पैदा करती। ये और बात है कि हम उम्र थे। उसकी शरारतें मेरे जीवन का अटूट हिस्सा थी, किताबों, सपनों और माँ की तरह।

"उठो अवनि, तुम्हारी बिल्कुल नहीं सुनूंगा!" उसने कोशिशें बंद करना सीखा ही कहाँ था।

न जाने मुझे क्या हुआ मैंने झटके से उसकी बाँह पकड़ी और खुद को उसे दरवाजे की ओर धकेलते हुए जोर से कहते सुना, "जाओ मानव, सुना नहीं तुमने, नहीं जाना है मुझे कही। मुझे अकेला छोड़ दो, जाओ, प्लीईईइज!"

उसे ऐसी आशा नहीं थी, मैंने पहले कभी ऐसा किया भी तो नहीं था। मेरी लरजती आवाज की दिशा में ताकता वह चुपचाप कमरे के दरवाजे की ओर बढ़ गया। अजीब

बात थी कि उसका जाना मुझे अच्छा नहीं लग रहा था। अब मेरा दिल चाह रहा था वह बाहों में भरकर छीन ले मुझे इस मदहोशी से, पर... पर वह चला गया और मैं रफ्ता-रफ्ता एक गहरी खामोशी में डूबती चली गई।

कभी-कभी लगता है हम दोनों एक समय-रेखा पर खड़े हैं। मैं पच्चीस पर खड़ी हूँ और अनिरुद्ध पैंतालीस पर। मैं हर कदम पर एक साल गिनते हुए अनिरुद्ध की ओर बढ़ रही हूँ और वे एक-एक कदम गिनते हुए मेरी दिशा की ओर लौट रहे हैं। ठीक दस कदमों के बाद हम दोनों साथ खड़े हैं, कही कोई फर्क नहीं अब, न समय का और न ही आयु का। इस खेल का मैं मन ही मन भरपूर आनंद लेती हूँ। काश कि असल जीवन में भी ये फर्क ऐसे ही दस कदमों में खत्म हो जाता। पर मैं तो जाने कब से चले जा रही हूँ और ये फर्क है कि मिटता ही नहीं, कभी-कभी बीस साल का यह फासला इतना लंबा प्रतीत होता है कि लगता है मेरा पूरा जन्म इस फासले को तय करने में ही बीत जाएगा।

मार्था शरारत से मुस्कुरातें हुए बताती है, मार्क ट्वेन ने कहा था - "उम्र कोई विषय होने की बजाए दिमाग की उपज है। अगर आप इस पर ज्यादा सोचते हैं तो यह मायने भी नहीं रखती।" मैं खिल-खिलाकर हँस देती हूँ, हँसी के उजले फूल पूरे कमरे में बिखर जाते हैं। मार्था भी न, गोर्की की एक कहानी के पात्र निकोलाई पेत्रोविच की तरह जाने कहाँ-कहाँ से ऐसे कोट ढूँढ़ लाती है। शायद यही वे क्षण होते हैं जब मैं खुलकर हँसती हूँ। घर में तो हमेशा एक अजीब-सी चुप्पी छाई रहती है। उस चुप्पी के आवरण में मेरी उम्र जैसे कुछ और बढ़ जाती है। तब मैं और मेरी मुस्कान दोनों जैसे मुरझा से जाते हैं।

पच्चीस की उम्र में अपने ही सपनों की दुनिया में खोई रहने वाली मैं अपनी हम उम्र लड़कियों से कुछ ज्यादा बड़ी हूँ और पैंतालीस की उम्र में अनिरुद्ध कुछ ज्यादा ही एनर्जेटिक हैं। अपनी किताबों पर बात करते हुए वे अक्सर उम्र के उस पायदान पर आकर खड़े हो जाते हैं जब वे मुझे बेहद करीब लगते हैं। उनकी आँखों की चमक और उत्साह की रोशनी में ये फासला मालूम नहीं कहाँ खो जाता है। मुझे लगता है जब वो मेरे साथ होते हैं तब हम, हम होते हैं, उम्र के उन सालों का अंतर तो मुझे लोगों के चेहरों, विद्रूप मुस्कानों और माँ की चिंताओं में ही नजर आता है। उफ्फ, मैं चाहती हूँ ये चेहरे ओझल हो जाएँ, मैं नजर घुमाकर इनकी जद से दूर निकल जाती हूँ पर माँ...!!!

बचपन में माँ ने किताबों से दोस्ती करा दी थी। माँ की पीएचडी और मेरा प्राइमरी स्कूल, किताबों का साथ हम दोनों को घेरे लेता। माँ अपने स्कूल से लौटते ही मुझे खाना खिलाकर अपना काम निपटा शाम को किताबों में खो जाती और मुझे भी कोई

कहानियों की किताब थमा देती। किताबों ने ही अनिरुद्ध से मिलाया था। लाइब्रेरी के कोने में अक्सर वे किताबें लिए बैठे मिलते, एक संदर्भ पर दुनिया-जहान की किताबें निकाल-निकाल थमा देते। मेरे शोध में मुझे जो मदद चाहिए थी वह उनसे मिली। फिर पता ही नहीं चला कब वे मेरी दुनिया में प्रवेश पा गए, जहाँ मैं थी, सपने थे, किताबें थी, अब अनिरुद्ध थे उनसे जुड़ी तमाम फैंटेसियाँ भी थी। वो लाइब्रेरी में मुझे किसी पन्ने को थामे कुछ समझा रहे होते और मैं उनके काँधे पर सर रखे एक पहाड़ी सड़क पर धीमे-धीमे चल रही होती। अब मैं सोते-जागते हर पल अनिरुद्ध साथ रहने को मजबूर थी। मेरे कल्पनालोक का विस्तार मेरी नींदों के क्षेत्र में भी अतिक्रमण कर चुका था।

मार्था के पास इससे संबंधित कोट भी हैं, वह गंभीर मुद्रा में दीवार ताकते हुए कहती है - "फ्रायड के अनुसार स्वप्न हमारी उन इच्छाओं को सामान्य रूप से अथवा प्रतीक रूप से व्यक्त करता है जिसकी तृप्ति जाग्रत अवस्था में नहीं होती।" वह कहती है - "स्वप्न हमारी इच्छा का ही सृजन होते हैं और गहन इच्छाओं का परिणाम। मन एक और संसार गढ़ता है। हम स्वप्न संसार के पात्र होते हैं। स्वप्न संसार मजेदार है अवनि, कभी खूबसूरत वन, उपवन, तो कभी सूखे पेड़। कभी मीलों तक फैलीं खामोशियाँ तो कभी कोलाहल से भरे कह-कहे।"

मैं एक सोच का सिरा थाम रही हूँ, वे कौन सी इच्छाएँ रही होंगी, जिन्होंने मेरे और अनिरुद्ध के बीच पसरे तमाम सालों के सफर पर जाना तय किया होगा। मेरी विदुषी सहेली के पास इसका उत्तर भी है। वह कहती है, मैं अनिरुद्ध में अपने पिता को ढूँढ़ती हूँ जिन्हें मैंने अपने जन्म से पहले ही खो दिया था। माँ ने अकेले माँ से पिता बनते हुए पिता की गंभीरता, उनकी कठोरता को ओढ़ लेना चाहा जिसकी कोशिश में उनके हाथों से कब वात्सल्य की कोमलता फिसलती गई ये वे भी न जान सकी। वे न पूरी माँ बन पाई और न ही पिता। उनके भीतर सदा एक द्वंद चलता रहता, उनके भीतर की माँ कभी पिता पर हावी हो जाती और कभी पिता माँ पर। इन दोनों में संतुलन बिठाने की कोशिश में निढ़ाल हुई माँ को किताबों में निजात मिलती।

"रबिश..., तुम कुछ भी बोलती हो मार्था!"

"नहीं अवनि, यह सच है, अनिरुद्ध सर का साथ और स्नेह तुम्हारे अधूरेपन को पूरा करता है। तुम्हारे अवचेतन में कही न कही पिता की कमी रही जो तुम्हे उनके साथ में निहित दिखती है। इस 'मे-डेसेंबर' रोमांस में यही सबसे बड़ी रीजनिंग है अवनि!"

"और मानव?

"कहो न मार्था, तब मानव का मेरे जीवन में क्या स्थान है?"

"वह तुम्हारे भीतर की स्त्री को संतुष्ट करता है, जिसे स्नेह नहीं प्रेम चाहिए। देह की अपनी भाषाएँ हैं अवनि और अपनी इच्छाएँ! राग, रंग, स्पर्श, छुअन, चुंबन, मनुहार और भी बहुत कुछ...।"

"उफ्फ, बस करो, तुम्हारा फ्रायड मुझे जरा भी नहीं भाता!"

मार्था जा रही है और मैं लौट रही हूँ, इस बार राग, रंग, स्पर्श, छुअन, चुंबन, मनुहार की दुनिया में! बालकनी में ठंडी हवा के झोंके में सिमटते हुए याद आया दो दिन से न तो मानव आया था, न ही उसका फ़ोन।

उस शाम मुझे एक फालतू की बचकानी पिक्चर देखनी पड़ी, बड़े से मैदान में पचास बैकग्राउंड डांसर्स के साथ पीटी करते मानव के नायक-नायिका जाने किस दुनिया के वाशिंदे थे। उसके पास बारिश में भीगती नायिका थी, बीस गुंडों से ढिशुम-ढिशुम करता नायक था, फूहड़ कॉमेडी वाले सीन थे और मेरे पास था उसका स्पर्श। कल लाइब्रेरी जाकर मैं भी मार्था के फ्रायड को एक बार पढ़ने का सोच रही थी, पर बिना मार्था को बताएँ।

कॉफी टेबल दूसरी ओर बैठे अनिरुद्ध आज बहुत दूर नजर आ रहे थे। उन्हें पंद्रह दिन के लिए विदेश जाना था। अपनी इस यात्रा को लेकर वे बहुत उत्साहित थे। विदेश में उनकी किताब के विदेशी अनुवाद संबंधित था यह कार्यक्रम। किताबों के अतिरिक्त बहुत कम बोलने वाले अनिरुद्ध आज धाराप्रवाह बात कर रहे थे, उनकी किताब, उनका उत्साह, उनकी योजनाएँ, विदेशी प्रसंशक, उनके आयोजक और मैं? मैं कहाँ हूँ अनिरुद्ध?

अजीब सा मन था मेरा उस दिन। अनिरुद्ध के दूर जाने की कल्पना बेचैन किए हुए थी, मार्था के शब्द जैसे मेरे चारों ओर एक कोलाज बना रहे थे, राग... रंग... स्पर्श... छुअन... चुंबन... मनुहार और भी बहुत कुछ... देह की भाषा सुनने की कोशिश में मैंने अनायास ही उनका हाथ थामना चाहा, उन्होंने चारों ओर देखते हुए एकाएक उसे झटक दिया।

"बिहेव अवनि! क्या हुआ तुम्हें? बच्ची मत बनो।"

इससे पहले ऐसा कभी नहीं हुआ। यह पहला अवसर था जब मैं भूल गई थी कि हम शहर के एक व्यस्ततम रेस्टोरेंट में बैठे हैं। मैं सदा देह की भाषा भूलती आई थी, मार्था

कहती है देह की अपनी भाषा है और अपनी इच्छाएँ। अनिरुद्ध ने तो दुनिया-जहान की किताबें पढ़ी हैं, क्या उन्हें देह की भाषा पढ़नी नहीं आती। उन्होंने कितने शब्दों को आकार दिया, पर कुछ शब्द अभी भी उनसे छूट गए और मैं उन्ही शब्दों को पैरहन बनाकर ओढ़ लेना चाहती हूँ। मुझे याद है अभी तक वह शाम, कितने करीब थे हम। इतना करीब कि उनके कंधे पर सर रखे मैं उनकी देह के स्पंदन को अपनी देह में स्थानांतरित होता महसूस कर पा रही थी। वे मेरी ओर मुड़े, उनकी आँखों में हल्की-सी नमी थी। पता नहीं क्यों उन जर्द आँखों में मुझे राग, रंग, स्पर्श, छुअन, चुंबन, मनुहार और भी बहुत कुछ दिखने लगा था। उनका चेहरा मेरे चेहरे के सामने था। मैंने होले से अपनी आँखें बंद कर ली, मेरी साँसे मानो थम सी गई थी। उनकी साँसों की थिरकन से मैंने जाना, मेरे करीब आते हुए वे झुके, काँपते हाथों से उन्होंने मेरे चेहरे को थामना चाहा फिर रुक गए। मेरे माथे पर एक हल्का स्पर्श हुआ और मेरी आँखें खुलने से पहले ही वे कमरे से बाहर चले गए।

कल अनिरुद्ध की फ्लाइट थी। उनके जाने के बाद मैं कब से बालकनी में बैठी उनके ही बारे में सोच रही हूँ। जहाँ एक और अनिरुद्ध की मेच्योरिटी, उनकी गंभीरता, उनका संतुलित व्यवहार मुझे खींचता करता हैं जिसे मैं अपने आसपास के लोगों में देखने को मैं तरस जाती हूँ, वही अनिरुद्ध को कभी-कभी मुझमें बचपना नजर आता है। नजर घुमाती हूँ तो वहीं कुछ दूर मानव है, उसकी हरकतें, उसका अतिरिक्त उत्साह, चीजों और बातों को गंभीरता से न लेने की उसकी आदतें बचकानी लगती है, उसके लिए जीवन सेलेब्रशन है, मस्ती है, नशा है जिसे वह मेरा हाथ थामकर जी भर जी लेना चाहता है। वह मुझे जरूरत से ज्यादा गंभीर पाता है, बिल्कुल अलग और काफी हद तक बोरिंग। तब वह क्या है जो मुझे अनिरुद्ध से और मानव को मुझसे बाँधे रखता है।

अपनी स्थिति को मैं समझ नहीं पा रही हूँ। बचपन से ही जिस गंभीरता के आवरण से लिपटी हुई हूँ। जाने क्यों कभी-कभी किन्ही खास क्षणों में छीजने लगता है। मैं उसे उतार फेंकना चाहती हूँ, जोर से खिलखिलाकर हँसना चाहती हूँ, अपनी बाँहें फैला कर किसी को पुकारना चाहती हूँ। कौन होगा जिसने प्रेम नहीं किया होगा। लोग जाने कितने कारणों से प्रेम में पड़ते हैं पर ये सच है, सभी को बदले में प्रेम ही चाहिए होता है, उतना ही प्रेम, वैसा ही प्रेम। बाकी कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं, कुछ भी तो नहीं।

आज मैं फिर समय-रेखा पर हूँ। पता नहीं क्यों पर इस बार समय-रेखा पर हम तीनों थे। पच्चीस पर मानव, उससे दस कदम दूर, पैंतीस पर मैं और मुझे दस कदम दूर पैंतालीस पर अनिरुद्ध खड़े थे। मुझे दस कदम बढ़ाने थे, पर किस दिशा में? मुझे

मानव की ओर लौटना था या अनिरुद्ध की ओर बढ़ना था। देह की भाषा सुननी थी या मन की आवाज! वही कुछ दूर माँ खड़ी हैं, ठीक मेरे कदमों पर नजर गड़ाएँ। मेरे कदम डगमगा रहे हैं, मैं गिरना नहीं चाहती, ओह, मुझे थाम लो माँ!!!

मानव के जन्म दिन पर इस बार मैंने कुछ किताबें दी हैं। वह रैपर खोलता हुआ हैरानी से मेरी ओर देख रहा है। उसे उस पैकेट में मनपसंद ब्रांड की शर्ट, ब्रूट उसका फेवरेट परफ्यूम, उसकी तसवीर से सजा कॉफी मग, पसंद का म्यूजिक अल्बम या ऐसा ही कुछ पाने की उम्मीद रही होगी। मैंने उदासी से किताबें उसके हाथ से लेकर टेबल पर रख दी। क्या हुआ है मुझे, कभी मन चाहता है, मानव मेरे साथ लाइब्रेरी वक्त बिताए या हम दोनों बालकनी में बैठकर खामोश सिंफनी सुनें। और... और कभी चाहती हूँ अनिरुद्ध पीछे से आकर अचानक मुझे बाँहों में भींचते हुए 'जानेमन' कहें और मेरा गाल चूम लें।

कल अनिरुद्ध की मेल आई थी, वे अब जर्मनी से लंदन चले गए हैं। बालकनी में तेज बर्फीली हवा चल रही है। मनीप्लांट अब काँप रहे हैं। मैं गोवा गई मार्था से पूछना चाहती हूँ, पूछो अपने फ्रायड से स्वप्न नहीं सपनों की दुनिया के मुहाने पर खड़े इनसान के लिए कौन सा रास्ता बचा है। तुम्हारे फ्रायड का 'लिविडो' अधूरा है मार्था। उन सपनों का क्या जो पूरे होने के लिए बने हैं। यही मन आज आकांक्षा, इच्छा की सीमा के पार जाकर भविष्य के भी दृश्य देखना चाहता है। उनमें अपनी इच्छाओं की स्थापना देखना चाहता है। स्वप्नों की परिणति चाहता है। तुमने ही तो कहा था, मन तो काल के भीतर है न! वह काल के तीनों आयामों में आवाजाही करता है - भूत में जाता है तो स्मृति और भविष्य में जाता है तो आकांक्षा! मैं स्मृतियों को जीते हुए ऊबने लगी हूँ, मार्था, अब स्मृतियों को नहीं, सपनों को नहीं अपनी आकांक्षाओं को जीना चाहती हूँ, भरपूर जीना चाहती हूँ। मेरे पास स्मृतियाँ ही स्मृतियाँ हैं और आकांक्षाओं के सिरे छूटने लगे हैं। अपने आज के इस आधे-अधूरे सच को लेकर मैं किसके पास जाऊँ। मार्था के भेजे कुछ रोते हुए, उदास स्माइली मेरे मोबाइल की स्क्रीन पर चमक कर मुझे मुँह चिढ़ा रहे हैं। मेरी दुविधा का उत्तर शायद उनके पास भी नहीं।

रात पता नहीं कल कब आँखें बंद हो गई, सुबह माथे पर गीले से, ठंडे से स्पर्श से आँख खुली तो पाया, मेरा सिर बुखार से तप रहा है, मानव मेरे सिर पर गीली पट्टी रख रहा है और माँ नाश्ते की ट्रे और दवा लिए खड़ी है। मैं समझ गई थी माँ ने ही मानव को कॉल किया होगा और वह कुछ मिनटों में ही ऑफिस की बजाए यहाँ होगा। अब माँ आश्वस्त हैं, मानव के इशारे पर मुझे उसकी देखरेख में छोड़कर वे स्कूल जा रही हैं,

उनके साथ ही मैं मानव के भीतर के उस बच्चे को भी जाता देख रही हूँ। उसके हाथ से नाश्ता खाते हुए मैं एक बार भी उसके चेहरे से नजरे नहीं हटा रही हूँ। थर्मामीटर ट्रे में रखकर मानव ने मुझे दवा दी, नैप्किन से मुँह साफ किया और हाथ के सहारे से बिस्तर पर लिटा दिया है और हौले से मेरे बालों में उँगलियाँ फिरा रहा है। अब ये जो मेरे हाथ में है, यह मानव का हाथ नहीं है, स्मृतियाँ नहीं, सपने भी नहीं मेरी आकांक्षाओं के सिरे हैं। मैंने उन्हें कसकर थाम लिया है। आज समय रेखा पर मेरे पाँव डगमगा नहीं रहे हैं, मैं आँखें बंद कर दस कदम गिन रही हूँ, और जानती हूँ वे किस दिशा में होंगे।